महात्मा बुद्ध स्वयं को आर्य मानते थे

यह आलेख महात्मा बुद्ध के प्रारम्भिक उपदेशों पर आधारित है। इसको पढ़कर वे पाठक विस्मय का अनुभव कर सकते हैं जिन्होंने केवल परवर्ती बौद्ध मतानुयायी लेखकों की रचनाओं पर आधारित बौद्ध मत के विवरण को पढ़ा है। महात्मा बुद्ध ने अपने जीवन-काल में स्वयं कुछ नहीं लिखा। उन्होंने उपदेश दिये जिनको शिष्यों ने संकलित किया। बुद्ध के जीवन-काल में उन संकलनों के आधार पर बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार-प्रसार एवं विस्तार होता रहा, किन्तु बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनकी शिक्षाओं, सिद्धान्तों और नियमों को लेकर उनके अनुयायियों में मतभेद और विवाद उभरने लगे। उनको दूर करने के लिए भारत में समय-समय पर चार बौद्ध शासकों के प्रबन्धन में चार संगोष्ठियाँ आयोजित की गईं। बौद्ध मत के प्रामाणिक आधार ग्रन्थ के रूप में पहले 'विनय पिटक' और 'सुत्तपिटक' के स्वरूप का निर्धारण हुआ। कुछ वर्षों के पश्चात् 'अभिधम्म पिटक' का। इन तीनों को '**त्रिपिटक**' कहा जाता है। जिस प्रकार सनातन जगत् में महाभारत का एक अंश 'भगवद् गीता' मान्य एवं प्रतिष्ठित है, वही प्रतिष्ठा 'धम्मपद' की है जो 'सुत्तपिटक' का एक अंश है। इसमें महात्मा बुद्ध के उपदेशों का संग्रह है। यह प्रारम्भिक उपदेशों का प्रामाणिक संग्रह माना जाता है। प्रस्तुत लेख में मुख्यत: उसी के आधार पर बुद्ध के मन्तव्यों को प्रदर्शित किया है।

महात्मा बुद्ध ने अपने जीवन में कोई नया मत नहीं चलाया था। तत्कालीन रूढ़िवादी पौराणिक समाज में वेद, यज्ञ और धर्म के नाम पर जो विकृतियाँ, कुरीतियाँ, पाखण्ड, अन्धविश्वास, क्रूर और जटिल कर्मकाण्ड एवं जातिवादीय अन्याय पनपे हुए थे उनको मिटाने के लिए उनका सुधार आन्दोलन था। वे एक समाजसुधारक के रूप में कार्यक्षेत्र में प्रस्तुत हुए थे। बाद में, उनके अनुयायियों ने उनकी विचारधारा को एक मत का रूप दे दिया और दर्शन के नाम पर एक नया बौद्ध-दर्शन गढ़ दिया जिसमें अनेक सिद्धान्त बुद्ध के विरुद्ध या बुद्ध द्वारा अप्रस्तुत भी थे और बौद्धों में परस्पर असहमति वाले थे। उनके कारण बौद्ध मत में ही अनेक सम्प्रदाय-उपसम्प्रदाय विकसित हो गये। उनका आचरण भी बुद्ध की शिक्षाओं के विपरीत और विकृत हो गया। उन सम्प्रदायों ने बुद्ध के उद्देश्यों को ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और बौद्ध मत को नास्तिक मत के रूप में स्थापित कर दिया। जैसे महीधर, उव्वट आदि ने अनर्थ करके वेदों के अभिप्राय को बदल दिया, ऐसे ही बौद्ध-विद्वानों ने बुद्ध की शिक्षाओं की मनचाही व्याख्या करके उनके अभिप्राय को या तो बदल दिया अथवा उसको संकुचित कर दिया।

महात्मा बुद्ध ने स्वयं को आर्य परम्परा के अन्तर्गत माना है और आर्य संस्कृति के उपदेष्टा के रूप में प्रस्तुत किया है। कुछ मतान्तरों को छोड़कर, उन्होंने अपने उपदेशों में वैदिक धर्मशास्त्रों, उपनिषदों और योगदर्शन के सदाचारों का ही प्रस्तुतीकरण किया है। उनके समय में कर्मकाण्ड एवं आहार-विहार में हिंसा का, आचरण में अधर्म का और सामाजिक व्यवहार में जातीय भेदभाव का बोलबाला था अत: उन्होंने अहिंसा, सदाचार और सामाजिक समरसता के निर्माण पर विशेष बल दिया। उपर्युक्त कथनों को अब हम प्रमाणों के आधार पर समझते हैं-

१. महात्मा बुद्ध ने स्वयं को आर्य और अपने सामाजिक कार्य को आर्य संस्कृति का पुनरुद्धार कार्य माना था। तपस्या-साधना के पश्चात् जिन चार सत्यों का उन्हें बोध हुआ उन्होंने उनको '**आर्य-सत्य**' नाम दिया था। सांसारिक जन्म-मरण रूप बन्धन-दु:ख से मुक्त होने का जो सन्देश आर्यों ने अपने वैदिक शास्त्रों के द्वारा दिया है वही इन चार आर्य-सत्यों में निहित है। इसी आधार पर 'सर्वदर्शन संग्रह' के लेखक माधवाचार्य ने 'बौद्धदर्शन' के प्रकरण में बुद्ध को '**आर्य बुद्ध**' कहा है। इतना ही नहीं, बुद्ध ने दु:खों से छूटने का आठ प्रकार का जो मार्ग बताया है उसको उन्होंने '**आर्य अष्टांग मार्ग**' नाम दिया है। चार 'आर्य सत्य' हैं- दु:ख का ज्ञान होना, दु:ख का कारण जानना, दु:ख की उत्पत्ति-प्रक्रिया और दु:ख को दूर करने की आवश्यकता,

दुःख को दूर करने का मार्ग। उनका 'आर्य अष्टांगिक मार्ग है-सम्यक् दृष्टि', सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् व्यवहार, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि। पाठक ध्यान दें कि ये सभी वैदिक शास्त्रों और योगदर्शन के उपदेश हैं। बुद्ध ने उनका सच्चा आचरण करने पर बल दिया है (धम्मपद १४.१२)

आर्य मानने के सन्दर्भ में, महात्मा बुद्ध का एक वचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसमें उन्होंने अपने समस्त अनुयायियों=बौद्धों को आर्य कहा है। वे कहते हैं-

यो सासनं अरहतं अरियानं धम्मजीविनं।
पतिक्कोसति दुम्मेधो दिट्ठिं निस्साय पणिकं।।

(वही, १२.८)

अर्थ- 'जो धर्मनिष्ठ, अर्हत् (बौद्ध साधक) आर्यजनों की शिक्षाओं की निन्दा करता है, वह दुर्बुद्धि पापदृष्टि मनुष्य निन्दनीय है।'

आर्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि 'प्राणियों की हिंसा करने वाला आर्य नहीं होता। अहिंसक ही सच्चा आर्य होता है' (वही, १९.१५) बुद्ध यह नहीं कह रहे कि मैं कोई नया धर्म प्रवर्तित कर रहा हूँ। वे कहते हैं-आर्यों के प्रवर्तित धर्म का पालन करना चाहिए। वही सुखी होता है, वही बुद्धिमान् है ('**अरियप्पवेदिते धम्मे सदा रमति पण्डितो**' ६.४)। मनुष्य को अप्रमादी होकर आर्यों द्वारा प्रदत्त ज्ञान ग्रहण करना चाहिए (२.२)। आर्यों का दर्शन मंगलकारी है और सान्निध्य सुखप्रद है ('**साधु दस्सनमरियानं सन्निवासो सदा सुखो**' १५.१०)। जो व्यक्ति निष्पाप और मलरहित हो जाता है उसको आर्यों की दिव्यभूमि प्राप्त होती है (१८.२)। ऋषि-महर्षि जन आर्य समुदाय के शास्त्रप्रणेता और समाज-सुधारक थे। बुद्ध कहते हैं कि तन-मन-वचन की पवित्रता रखते हुए ऋषियों के मार्ग पर चलो (२०.९)। इस प्रकार बुद्ध आर्य-शास्त्रकारों का सम्मान भी करते थे और स्वयं को आर्य समुदाय का सदस्य भी मानते थे।

२. महात्मा बुद्ध ने अपने प्रवचन मौखिक रूप में दिये थे। उस प्रवचन काल में बौद्धों के कोई शास्त्र नहीं बने थे। अपने प्रवचनों में वे अनेक बार शास्त्रों की, उनके मार्ग पर चलने की, उनका धर्म ग्रहण करने की प्रेरणा देते हैं। उन शास्त्रों के प्रति सम्मान प्रकट करते हैं। उनसे पहले, शास्त्र के रूप में वैदिक शास्त्र ही प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित थे। शास्त्रों में सबसे प्रमुख शास्त्र वेद माने जाते थे, अतः शास्त्रों के सम्मान में वेदों का सम्मान स्वतः समाविष्ट हो जाता है। जो लोग कहते हैं कि बुद्ध वेदों के विरोधी थे, यह कथन सर्वथा निराधार है। पं. धर्मदेव विद्यामार्तण्ड ने अपनी पुस्तक 'वेदों का यथार्थ स्वरूप' में वेदों की प्रशंसा-विषयक बुद्ध के अनेक वचन उद्धृत किये हैं। उनमें एक-दो इस प्रकार हैं-

विद्वा च वेदेहि समेच्च धम्मम्।
न उच्चावचं गच्छति भूरिपज्जो।

(सुत्तनिपात, गाथा २९२)

अर्थ- 'जो विद्वान् वेदसम्मत धर्म को जान लेता है, वह बुद्धिमान् व्यक्ति कभी सन्देहग्रस्त नहीं रहता अर्थात् वह धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझ लेता है।'

विद्वा च सो वेदगु नरो इध भवाभावेसंगम इमं विसज्जा।
सो वितन्हो अनिघो निरासो अतारि सो जाति जरान्ति ब्रूमिति।

(वही, गाथा १०६०)

अर्थ- बुद्ध कहते हैं- 'मैं तुम्हें बताता हूँ कि वेदों का ज्ञाता विद्वान् मनुष्य सांसारिक मोह-माया को त्याग कर तृष्णारहित, पापरहित, इच्छारहित हो जाता है और वह जन्म, जरा, मृत्यु को जीतकर मुक्त हो जाता है।'

एक अन्य स्थल पर तो वेदमन्त्रों का स्वाध्याय न करने को दोष कहा है ('**असज्झायमला मन्ता**,' धम्मपद १८.७)। बौद्ध ग्रन्थों में श्लोक या गाथाएँ होती हैं, मन्त्र नहीं होते। अतः यह कथन वेदमन्त्रों के लिए ही है। मनुस्मृति, महाभारत, उपनिषद् आदि शास्त्रों के अनेक उद्धरण बुद्ध के प्रवचनों में मिलते हैं जिनका पालि भाषा में रूपान्तरण किया हुआ है। इस प्रकार बुद्ध के अनेक प्रवचन वैदिक शास्त्रों पर आधारित हैं।

३. गौतम बुद्ध की विरक्ति का एक कारण यज्ञों के नाम पर क्रूर बलिप्रथा, यज्ञ में पशु-पक्षियों की हिंसा, यज्ञ की आड़ में मांसाहार जैसा पाप था। यज्ञों में आई विकृतियों के कारण बुद्ध के प्रवचनों में यज्ञ के विधानों के प्रति कोई रुचि नहीं दिखाई देती। किन्तु यह भी वास्तविकता है कि उनके उपदेशों में यज्ञ का कोई विरोध नहीं है, अपितु पुण्य

के लिए किये यज्ञ की प्रशंसा है-

यो वेदगु जानरतो सतीमा सम्बोधि पत्तो सरनम बहूनां।
कालेन तं हि हव्यं पवेच्छे यो ब्राह्मणो पुण्यपेक्षो यजेथ।

(सुत्तनिपात, गाथा ५०३)

अर्थ- 'जो वेदों का विद्वान् सत्यचरित्र, ज्ञानवान्, अधिक से अधिक लोगों को शरण देने वाला हो। ऐसा ब्राह्मण यदि पुण्य के लिए यज्ञानुष्ठान करे तो उसका उस समय हव्य-कव्य से सम्मान करे।'

हाँ, यह अवश्य है कि जैसे धर्मशास्त्रों में बाह्य क्रियाओं की अपेक्षया आन्तरिक ध्यान आदि को तुलनात्मक रूप से उत्तम माना है, उसी प्रकार बुद्ध ने यज्ञ आदि की अपेक्षा निर्मल मन-आचरण को उत्तम माना है। उसका मूल कारण उनके मन पर तत्कालीन विकृत यज्ञों का प्रभाव है।

४. समीक्षकों का एक वर्ग बौद्ध मत को अनीश्वरवादी और अनात्मवादी मानता है। एक वर्ग ऐसा नहीं मानता। इस वर्ग का मानना है कि गौतम बुद्ध ने आचरण की शुद्धता को मुख्य उद्देश्य बनाया था, अतः ईश्वर, आत्मा और सृष्टि जैसे जटिल विषयों को अपना विवेच्य विषय नहीं बनाया। इन विषयों पर वे मौन रहे, विरोधी नहीं थे। विरोध का विवाद परवर्ती अनुयायी विद्वानों ने खड़ा किया है। उत्तर काल में आकर कई बौद्ध सम्प्रदाय स्वयं भी ईश्वरवादी बन गये और बुद्ध को ही ईश्वर मानकर पूजा करने लगे। बुद्ध के उपदेशों में कई स्थल ऐसे मिलते हैं जहाँ वे ईश्वर और जीवात्मा की सत्ता को स्वीकार करते हुए दिखाई पड़ते हैं। इसकी पुष्टि में दो गाथाओं के चरणों को प्रस्तुत किया जा सकता है-

''गहकारं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं।''
''गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि।''

(धम्मपद ११.८,९)

अर्थात्- 'हे मेरे शरीर रूपी घर के स्रष्टा! तुम्हारी खोज की चाहत में मैंने दुःख-पूर्ण जन्म पुनः-पुनः लिया है। हे मेरे शरीर रूपी घर को बनाने वाले! अब मैंने तुम्हारा साक्षात् कर लिया है, अब मैं इस शरीर को धारण नहीं करूंगा।' भाव बड़ा स्पष्ट है। शरीर का स्रष्टा ईश्वर होता है और उसके दर्शन से जन्म-मरण रूप दुःख से द्रष्टा मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार बुद्ध के उपदेशों में आत्मा, प्रज्ञा, मन, चित्त का पृथक् और स्पष्ट उल्लेख है। वैदिक शास्त्रों में आये-

''आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः''

(मनु. ८.८४)

''उद्धरेदात्मनात्मानम्'' आदि वाक्यों की आत्मा-परमात्मा-परक सही व्याख्या की हुई मिलती है, किन्तु बौद्ध साहित्य में इनके पालि में रूपान्तरित पद्यों-

''अत्ता हि आत्मनो नाथो अत्ता हि आत्मनो गतिः'' (२५.२१), **''अत्तना चोदयेदत्तानम्''** (२५.२०) की उपव्याख्या की जाती है। बौद्ध मत को अनीश्वरवादी-अनात्मवादी दिखाने के लिए **'आत्मा'** शब्द की **'अपना'** यह गलत व्याख्या की जाती है, **'आत्मा'** को लुप्त कर दिया जाता है।

बहुत समय तक आर्य, पौराणिक हिन्दू और बौद्ध साथ-साथ रहे। बुद्ध के सुधारों से पौराणिकों की आजीविका, इन्द्रियलिप्सा, विलासिता, वर्चस्व पर दुष्प्रभाव पड़ने लगा, दलितों-पिछड़ों, स्त्रियों की समानता, शिक्षा आदि से पौराणिक आहत हुए। दूसरी ओर बौद्ध स्वयं को आर्य (हिन्दू) समुदाय से पृथक् स्वतन्त्र समुदाय बनने के उपाय कर रहे थे। दोनों वर्गों के मध्य हुए वैचारिक, दार्शनिक, सामाजिक, आहंकारिक संघर्षों ने दो बड़े समुदायों को विघटित कर दिया। आर्य समुदाय में बने रहते तो इसकी विखण्डन की क्षति नहीं होती। एक समुदाय होता, एक संगठनात्मक शक्ति होती, एक समुदाय के सहभागी अनेक राष्ट्र होते, किन्तु अदूरदर्शिता और संकुचित विचारों के कारण ऐसा न हो सका। इसके हानिकारक परिणामों को भविष्य में दोनों समुदायों को भुगतना पड़ेगा। उससे बचने के लिए आज भी फिर से एक समुदाय बनकर संगठित रह सकते हैं। आज जब घोर नास्तिक कम्युनिस्ट, आर्य, सनातनी आदि एक हिन्दू समुदाय में सहभाव से रह सकते हैं तो बौद्ध, जैन आदि समुदायों के रहने में तो कोई आपत्ति ही नहीं है।

डॉ. सुरेन्द्र कुमार

राजा और प्रजाजन परस्पर सम्मति से समस्त राज्य व्यवहारों की पालना करें।-महर्षि दयानन्द, यजुर्वेद, भावार्थ ६.२६